ॐ

संविच्छक्त्यै नमः

श्री

कुलार्णवः तन्त्रः

(प्रथमः तथा नवमः उल्लासः)

(भाषा टीका सहितः)

सत्संगश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम् ।
यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादसार्गगः ॥

संपादक तथा प्रकाशक :

श्री

रामशैव (त्रिक) आश्रम

फतेहकदल - श्रीनगर

सं० १९६५ ई०

प्रथम संस्करण - १००० मूल्य—५० पैसे

व्याघ्रीवास्ते जरा चायुर्याति भिन्नघटाम्बुवत् ।
निघ्नन्ति रिपुवत् रोगाः तस्माच्छ्रेयः समाचरेत् ॥२९॥

बुढ़ापा एक भयानक शेरनी जैसा मनुष्य की ताक में रहता है, आयु भी टूटे घड़े में ठहरे जल की भांति बह जाती है, रोग भी शत्रु की तरह मारते हैं इसलिये मनुष्य को अपने कल्याण (आत्मज्ञान) का काम करना चाहिये। २९।

यावन्नाश्रयते दुःखं यावन्नायान्ति चापदः ।
यावन्नेन्द्रियवैकल्यं तावच्छ्रेयः समाचरेत् ।३०।

जब तक दुःखों का सामना न करना पड़े, जब तक विपत्तियां घेर न लें, और जब तक इन्द्रियां अपना काम करने में असमर्थ न हो जायं, तब तक (ऐसी परिस्थितियां आने से पहले ही) आत्मकल्याण का काम करना चाहिए।३०।

कालो न ज्ञायते नानाकार्यैः संसारसंभवैः ।
सुखदुःखैर्जनो हन्ति न वेत्ति हितमात्मनः ।३१।

संसार व्यवहार से उत्पन्न हुए नाना प्रकार के कामों से समय बीतता जान नहीं पडता, सुख और दुःख जीव को मारते हैं, इस प्रकार वह जीव आत्मकल्याण (मुक्ति का मार्ग) जान नहीं पाता।३१।

यातनार्त्तानापद्गतान् दृष्ट्वाति दुःखितान्मृतान् ।
लोको मोहसुरां पीत्वा न वेत्ति हितमात्मनः ।३२।

यह संसारिक जीव पीडाओं से आर्त, आपदाओं में फंसे हुए, दुःखी और मरे हुए जीवों तथा मनुष्यों को देख कर भी, मोह रूपी शराब के नशे में चूर रहता है और अपना कल्याण (मुक्ति का मार्ग) नहीं जान पाता। ३२।

सम्पदः स्वप्नसंकाशा यौवनं कुसुमोपमम् ।
तडिच्चञ्चलमायुश्च कस्यकस्मादतो धृतिः ॥३३॥

धन सम्पदायें स्वप्न के समान अनित्य और नाशवान है, जवानी भी फूल की भांति कुम्हला जाती है और सदा रहने वाली नहीं, आयु तो बिजली की चमक की तरह क्षणभङ्गुर है, इसलिए कौन किस वस्तु पर विश्वास रख सकता है, कुछ भी विश्वसनीय नही है। ३३।

शतं जीवितमित्थं च निद्रास्यादर्धहारिणी ।
निद्रात्स्यांतदर्धकम् ।
बाल्यरोगजरादुःखैरर्धं तदपि निष्फलम् ॥३४॥

सौ वर्ष आयु मानते हुए भी उस में से आधा (पचास वर्ष) तो निद्रा (रात आदि) छीन लेती है, बालक अबस्था, रोगादि, बुढापा और दुःखों में जो बचा आधा गुजरता है वह भी निष्फल ही जाता है। ३४।

प्रारब्धव्ये निरुद्योगो जागर्तव्ये प्रसुप्तकः ।
विश्वस्तव्यो भयस्थाने हा! नरः को न हन्यते ॥३५॥

मनुष्य आत्मकल्याण के लिये यत्न करने योग्य काम में सुस्त रहता है, और जिस मुक्ति मार्ग ढूंडने के काम में उसे जागते (होशियार) रहना चाहिए वहां सोया रहता है और भय के स्थान संसार पर विश्वास करता है। कौन मनुष्य इस प्रकार धोखे में पड़कर दुःख नहीं उठाता? यह बड़े कष्ट की बात है। ३५।

तोयफेनसमे देहे जीवे शकुनिवत्स्थिते ।
अनित्ये प्रियसंवासे कथं तिष्ठन्ति निर्भयाः ॥३६॥

यह शरीर इस संसार सागर में जल के कफ के गोले के समान है और जीवात्मा इस शरीर में ऐसे है जैसे कफ के गोले पर कोई चील या पक्षी हो, परन्तु यह जीवात्मा इस अनित्य घर (शरीर) को प्यारा मान कर इस में कैसे निर्भय होकर रहते हैं ।३६।

अहिते हितबुद्धिः स्यादध्रुवे ध्रुवचिन्तकः ।
अनर्थे चार्थविज्ञानी स मृत्युं न हि वेत्ति किम् ॥३७॥

यह मूर्ख जीव इस शरीर पर जो हितकारी नहीं हित का निश्चय रखता है और अनित्य होते हुए भी इसे नित्य समझता है, अनर्थकारी होते हुए भी इस को उपकारी मानता है वह यह क्यों नहीं जानता कि मृत्यु अवश्य आने वाली है ।३७।

पश्यन्नपि न पश्येत्सः शृण्वन्नपि न बुध्यति ।
पठन्नपि न जानाति तव मायाविमोहितः ॥३८॥

हे देवी ! तुम्हारी माया से मोहित हुआ यह जीव यह सब कुछ देखता हुआ भी मानो कुछ भी नहीं देखता, सब कुछ सुनता हुआ भी नहीं समझता, शास्त्र पढ़ पढ़कर भी परमार्थ को नहीं जान पाता ऐसी प्रबल माया शक्ति है ।३८।

सन्निमज्जज्जगदिदं गंभीरे कालसागरे ।
मृत्युरोगमहाग्राहे न किञ्चदपि बुध्यति ॥३९॥

यह सारा जगत् इस गहरे काल रूपी सागर में जिस में मृत्यु और रोग आदि रूपी बडे बडे भयानक मगरमच्छ हैं डूबा हुआ है, परन्तु कुछ भी नहीं जानता ।३९।

प्रतिक्षणमयं कायो जीर्यमाणो निरीक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाम्भःस्थो विशीर्णो न विभाव्यते ॥४०।

यह शरीर हर क्षण जीर्ण होता हुआ दिखाई देता है और जल में रक्खे हुए कच्चे घडे की भांति पानी के साथ घुलता हुआ दीख नहीं पड़ता । ४० ।

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम् ।
ग्रथनं च तरङ्गानामास्थानायुषि युज्यते ॥४१॥

वायु को लपेटना, आकाश को तोड़ कर टुकड़ें टुकड़े करना, समुद्र की तरंगों को बांधना आदि जैसे असम्भव कार्य्यों का करना योग्य हो सकता है, परन्तु आयु पर स्थिरता मानना असम्भव और अयोग्य भी है । जीवन का कुछ भी भरोसा नहीं । ४१ ।

पृथिवी दह्यते येन मेरुश्चापि विशीर्यते ।
शुष्यते सागरजलं शरीरे देवि ! का कथा ॥४२॥

जिस कारण काल क्रम के अनुसार यह पृथिवी भी जल जाती है, सुमेरु पर्वत भी नष्ट हो जाता है, सागरों का जल तक सूख जाता है, तो हे देवी, इस नाशवान शरीर का कहना ही क्या है ? यह निश्चय ही नाश होने वाला है । ४२ ।

अपत्यं मे कलत्रं मे धनं मे बान्धवाश्च मे ।
लपन्तं इति मर्त्याजं हन्ति कालवृकोदरः ॥४३॥

यह सन्तान मेरे हैं, स्त्री मेरी है, धन और रिश्तेदार मेरे हैं, इस प्रकार (मे, मे, बकरे का शब्द) बोलने वाले मनुष्य रूपी बकरे को काल रूपी भेडिया मार कर खा जाता है । ४३ ।

इदं कृतमिदं कार्य्यमिदमन्यत्कृताकृतम् ।
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरत्ति जनं प्रिये ! ॥४४॥

"यह काम मैंने कर लिया है, यह अभी करना है, यह और कौर्य थोडा किया और थोडा वाकी है" ऐसी ऐसी कांक्षाओं युक्त मनुष्य को हे देवी ! महाकाल खा जाता है। ४४।

श्वःकार्य्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽप्यथवाऽकृतम् ॥४५॥

मनुष्य को कल का काम आज ही करना चाहिए, और दूसरे दिन का काम पहिले ही दिन करना चाहिए, क्योंकि काल यह देखने के लिये जरा भी नहीं ठहरता कि मरने वाले पुरुष ने काम पूरा किया है या कि नहीं। ४५।

जरादर्शितपन्थानं प्रचण्डव्याधिसैनिकम् ।
मृत्युशत्रु समादिष्टमायान्तं किं न पश्यति ॥४६॥

बुढापा जिसे जीव की ओर रास्ता बताता है, भयानक रोग जिसके सैनिक हैं, मृत्यु रूपी शत्रु जिसे आज्ञा करता है, ऐसे अपनी ओर आते हुए महाकाल को यह जीव क्यों नहीं देखता ? । ४६ ।

तृष्णासूचीविनिर्भिन्नं सिक्तं विषयसर्पिषा ।
रागद्वेषानले पक्वं मृत्युरश्नाति मानवम् ॥४७॥

मृत्यु मनुष्य को तृष्णा रूपी सलाई से छेद कर फिर उसे विषय (शब्द स्पर्श, रूप, रस' गन्ध) रूपी घी का तडका लगा कर, राग, द्वेष रूपी आग पर पका कर खा जाता है। ४७।

बालांश्च यौवनस्थांश्च वृद्धान्गर्भगतानपि ।
सर्वानाविशति मृत्युरेवं भूतमिदं जगत् ॥४८॥

यह मृत्यु बच्चों, जवानों, बूढों, बल्कि गर्भ में ठहरे हुए बच्चों पर भी, अपना आवेश करता है (सभी मरते हैं) यह जगत ऐसा ही बना हुआ है। ४८।

ब्रह्माविष्णुमहेशादि देवता भूतजातयः।
नाशमेवानुधावन्ति तस्माच्छ्रेयः समाचरेत् ।४९।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवगण तथा सभी जीवों के समूह सभी नाश होने वाले हैं, इस लिये मनुष्य को आत्मकल्याण (मुक्ति) का उपाय ढूंडने का कार्य करना चाहिए । ४९ ।

स्वस्ववर्णाश्रमाचारलङ्घनाद्दुष्प्रतिग्रहात् ।
परस्त्रीधनलोभाच्च नृणामायुक्षयो भवेत् ॥५०॥

अपने अपने वर्ण (ब्राह्मण इत्यादि), आश्रम (ब्रह्मचर्य आदि) के आचार का उल्लंघन करने से, उल्टी बात पर आग्रह करने से, पराई स्त्री या पराये धन का लोभ करने से मनुष्यों की आयु घट जाती है। ५०।

गुरुवञ्चना से नौकरी के पाठ।

वेदशास्त्राद्यानभ्यासात्तथैव गुरुवञ्चनात् ।
नृणामायुक्षयो भूयादिन्द्रियाणामनिग्रहात् ।।५१॥

वेद, शास्त्र आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों का अभ्यास न करने से, गुरु को ठगने से और इन्द्रियों को वश में न रखने से मनुष्यों की आयु घट जाती है। ५१ ।

 नोइति क पाठः मनुष्यस्यर्थः।

व्याधिराधिर्निषं शस्त्रं नृसर्पाः पशवो मृगाः ।
निर्वाणं येननिर्दिष्टं तेन गच्छन्ति जन्तवः ॥५२॥

मानसिक अथवा शारीरिक रोग, विष, हथियार, मनुष्य, सांप, जंगली अथवा दूसरे पशु, इन में से जिस किसी के कारण जिस जीव की मृत्यु उस के कर्मानुसार नियत है, उसी के कारण वह जीव मृत्यु प्राप्त करता है । ५२ ।

जीवस्तृणजलौकेव देहाद्देन्तरं व्रजेत् ।
संप्राप्य चोत्तरांशेन देहं त्यजति पौर्वकम् ।५३।

परमांशेन

यह जीवात्मा तृणजलौका (झांझी, कीटविशेष) की तरह एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, अपने अगले अंश से नये शरीर को प्राप्त करके तब पिछले शरीर को छोड़ता है। (यह कीडा घास के एक तिनके से दूसरे तिनके को जाता है, और जब तक अगले तिनके को भली प्रकार पकड न ले, पहले को नहीं छोडता । ५३ ।

देहान्तरादिकम्

बाल्ययौवन वृद्धत्वँ यथा गेहाम्बरादिकम् ।
तथादेहान्तरप्राप्तिः गृहाद्गृहमिवागतिः ॥५४॥

बालकअवस्था, यौवन, बुढ़ापा, घर, वस्त्र आदि की तरह हैं, क्योंकि मनुष्य बचपन छोड़ कर जवानी, और जवानी छोडकर बुढ़ापा इसी तरह प्राप्त करता है जैसे एक घर से दूसरे घर में जाना या एक वस्त्र छोडकर दूसरा वस्त्र पहनना हो, इसी प्रकार एक शरीर छोड़कर (मरकर) दूसरे को प्राप्त करना भी ऐसा ही है जैसे एक घर से दूसरे घर में जाना हो । ५४ ।

परत्राज्ञानिनो

जनाःकृत्वेह कर्माणि सुखदुःखानि भुञ्जते ।
परत्रहानितो देवि ! यान्त्यायान्ति पुनः पुनः ॥५५॥

इस लोक में मनुष्य पुण्य और पापकर्म करके उनके फल स्वरूप सुख और दुःख भोगते हैं। हे देवी ! वे परमार्थ में हानि उठाते हैं (मुक्ति से वंचित रहते हैं) और बार बार आवागमन में फंसे रहते है (जन्मते और मरते हैं)

इह यत् क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुञ्जते ।
सिक्तमूलस्य वृक्षस्य फलं शाखासु दृश्यते ॥५६॥

मनुष्य इस लोक में जो कर्म करता है, उसका फल वह अगले जन्म में भोगता है। जैसे वृक्ष को तो जडों में पानी दिया जाता है परन्तु इस सिंचाई का फल इस वृक्ष की शाखाओं पर (जडसे दूर) फल के रूप में दिखाई देता है। ५६।

दारिद्र्यदुःखरोगाश्च बन्धनं व्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥५७॥

निर्धनता, दुःख, रोग, बन्धन और व्यसन (ऐब) यह शरीर धारियों के अपने किये हुए पाप रूपी वृक्षों के फल हैं। ५७।

निःसङ्ग एवमोक्षः स्याद्दोषाः सर्वे च सङ्गजाः ।
सङ्गाच्च चलते ज्ञानी चावश्यं किमुताल्पवित् ॥५८॥

संगरहित (एकान्त) रह कर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है, संग के कारण ही सभी दोष उत्पन्न होते हैं, ज्ञानी पुरुष भी संग के कारण ही अपनी अटल स्थिति को खोता है, तो साधारण लौकिक अज्ञानी पुरुषों का कहना ही क्या ? ५८।

संङ्गः सर्वात्मना हेयः स चेत्यक्तुं न शक्यते ।
सद्भिः सह च कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥५९॥

मनुष्य को संसार और विषयों का संग हर प्रकार से छोड़ना चाहिए, और यदि वह संग छूट न सके तो सत्पुरुषों का ही संग करना चाहिए क्योंकि इस संग रूपी रोग के लिए सत्संग ही परम औषधि है ।५९।

सत्सङ्गश्चविवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम् ।
यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः ॥६०॥

सत्पुरुषों का संग और परमार्थ विचार यह मनुष्य के दो निर्मल नेत्र हैं, पर जो अभागा पुरुष इन नेत्रों से हीन हो, वह परमार्थ मार्ग में चलने के लिये अन्धा है, तो वह कैसे सन्मार्ग से भटक कर उल्टे (संसार) मार्ग में न जाय ? (अवश्य ही भटक जायगा)

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान् ।
ख तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥६१॥

जितना जितना यह जीव अपने मन के प्यारे प्यारे सम्बन्ध (पुत्र मित्रादि) बढ़ाता जाता है, उतना ही उतना उसके हृदय में शोक की मेखें गाढी जाती हैं, वह दुःखी ही होता जाता है ।६१।

स्वदेहमपि जीवोऽयं त्यक्त्वा याति सुरेश्वरि !
स्त्रीमातृपितृपुत्रादिसम्बन्धः केन हेतुना ॥६२॥

हे देवी ! यह जीव तो मरने के समय सब कुछ यहां तक कि अपना शरीर भी यहां इसी संसार में छोड कर जाता है, तो पत्नी, माता, पिता, पुत्र आदि का सम्बन्ध किस कारण हो सकता है ? (परमार्थ में कोई किसी का नहीं, रिश्ते झूटे है) ।६२।

दुःखमूलो हि संसारः स यस्यास्ति स दुःखितः ।
तस्य त्यागः कृतो येन स सुखी नापरः प्रिये ! ॥६३॥

हे प्राणप्यारी देवी ! यह संसार दुःखों का कारण है, और जो इसे (संसार को) अपनाता है, वही दुःखी है, जो ज्ञानी इसे त्याग देता है (इस में नहीं फंसता) वही सुखी रहता है, उसके बिना कोई दूसरा पुरुष सुखी नहीं रह सकता ।६३।

प्रभवं सर्वदुःखानामाश्रयं सकलापदाम् ।
आलयं सर्वपापानां संसारं वर्जयेत् प्रिये ! ६४॥

हे प्रिये ! यह संसार सभी दुःखों की उत्पत्ति का स्थान है, सभी आपत्तियों के ठहरने की जगह है, और सभी पापों का घर है, इस लिए इस संसार को छोड़ कर (इस से विरक्त हो कर) मुक्ति का मार्ग ढूंढना चाहिए । ६४ ।

अबन्धबन्धनं घोरमस्वीकृतं महाविषम् ।
अशस्त्रखण्डनं देवि ! संसारासक्तचेतसाम् ॥६५॥

जिन मनुष्यों का मन इस संसार में आसक्त है उन को यह संसार बिना किसी बन्धन (रस्सी आदि) के कठिन बंधन में फंसाता है यह उन के लिए भयानक विष है परन्तु जीव इसे ऐसा नहीं मानता, यह संसार बिना किसी हथियार के ही टुकड़े २ कर डालता है (बडे दुःख का कारण है) ।६५।

आदिमध्यावसानेषु सर्वदुःखमिदं जगत् ।
तस्मात्संत्यज्य संसारं तत्त्वनिष्ठः सुखी भवेत् ॥६६॥

यह जगत आदि, मध्य तथा अंत में सर्वथा दुःखों का घर है, इसलिये इस संसार को छोड़ कर (परमार्थ) आत्मनिष्ठ रहना चाहिए जिस से सुख की प्राप्ति हो सकती है ।६६।

लोहदारुमयैः पाशैर्दृढं बद्धोऽपि मुच्यते ।
स्त्रीधनादिषु संसक्तो मुच्यते न कदाचन ॥६७॥

लोहे की भयानक बेड़ियों से बंधा हुआ मनुष्य उन बेड़ियों से छूट सकता है, परन्तु स्त्री, धन इत्यादि के मोह में फंसा हुआ मनुष्य कभी भी छुटकारा नहीं पा सकता । ६७ ।

कुटुम्बचिन्तायुक्तस्य कुतः शीलादयो गुणाः ।
अपक्वकुम्भजलवत् नश्यन्त्यङ्गानि तेन हि ॥६८॥

कुटुम्ब की चिन्ता में लगे हुए मनुष्य में अच्छा स्वभाव इत्यादि गुण कहां हो सकते हैं ? (नहीं हो सकते,) उसकी दशा एक कच्चे घडे की सी है, जिस के अङ्ग उस घडे में रखे हुए पानी से ही नष्ट हो जाते हैं । ६८ ।

वाञ्छिताशेषवित्तैस्तैर्नित्यं लोको विनाशितः ।
हा ! हन्त ! विषयाहारैर्देहस्थेन्द्रिय तस्करैः ॥६९॥

कितने कष्ट की बात है कि इस शरीर में ठहरे हुए इन्द्रिय रूपी चोरों ने, जो हर समय अपने अपने विषय रूपी सारे धन की कांक्षा में लगे रहते हैं और इन विषयों का भोग करने के लिए चंचल रहते हैं, सभी लोगों को नष्ट कर दिया है और उन्हें परमार्थ मार्ग से भटका कर संसार मार्ग में फंसा दिया है ।६९।

मांसलुब्धो यथा मत्स्यो लौहशङ्कुं न पश्यति ।
सुखलुब्धो तथा देही यमबाधां न पश्यति ॥७०॥

जिस प्रकार मांस के लोभ में मछली उस लोहे के कांटे को जिस से वह पकडी जाती है, नहीं देखती, ठीक इसी प्रकार जीव भी सुख के लोभ में यम की फांसियों को नहीं देख पाता, यह नहीं समझता कि मरना अवश्य ही है ।७०।

हिताहितं न जानन्तो नित्यमुन्मार्गगामिनः ।
कुक्षिपूरणनिष्ठा ये तेऽबुधा नारकाः प्रिये ! ॥७१॥

हे देवी ! जो मूर्ख अपने भले और बुरे को नहीं जानते, नित्य उल्टे मार्ग (संसार मार्ग) पर ही चलते हैं और सदा पेट भरने के धन्धे में लगे रहते हैं, वे नरक को जाते हैं।७१।

निद्रादिमैथुनाहाराः सर्वेषां प्राणिनां समाः ।
ज्ञानवान्मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशुः प्रिये ! ॥७२॥

सोना, बच्चे उत्पन्न करना, खाना पीना इत्यादि यह सब काम मनुष्यों और पशुओं में एक समान हैं। इसलिए हे प्यारी देवी ! ज्ञानी पुरुष ही मनुष्य कहलाने योग्य है और अज्ञानी तो पशु के समान है। ७२।

प्रभाते मलमूत्राभ्यां क्षुत्तृड्भ्यां मध्यगेरवौ ।
रात्रौ मदननिद्राभ्यां बाध्यन्ते मानवाः प्रिये ! ॥७३॥

साधारण मनुष्यों का प्रातःकाल का समय मल मूत्र त्याग में, दोपहर का समय भूख प्यास मिटाने में और रात का समय नींद और कामचेष्टा में बीत जाता है, इस प्रकार सारा समय व्यर्थ गुजरने के कारण परमार्थ मार्ग में बाधा पड़ जाती है। ७३।

स्वदेहधर्मदारादिनिरताः सर्वजन्तवः ।
जायन्ते च म्रियन्ते च हा ! हन्ताज्ञानमोहिताः ॥७४॥

खेद की बात है ! कि अज्ञान के कारण मोह में पडे हुए सभी जीव अपने शरीर, धर्म, पत्नी आदि के पालने में लगे रहते हैं और इस कारण बार बार जन्म लेते और मरते हैं, इनके जन्म मरण का कोई अन्त नहीं। ७४।

स्वस्ववर्णाश्रमाचारनिरताः सर्वमानवाः ।
न जानन्ति परं तत्त्वं मूढा नश्यन्ति पार्वति ॥७५॥

हे पार्वती ! सभी मनुष्य अपने अपने वर्णाश्रम धर्म के पालने में लगे रहते हैं, वे परम उत्कृष्ट आत्म तत्त्व को नहीं जानते, इस कारण वे मूर्ख नष्ट हो जाते हैं, संसार के दुःखों में फंसे रहते हैं ।७५।

क्रियायासपराः केचित् व्रतधर्मादिसंयुताः ।
अज्ञानसंभृतात्मानः संचरन्ति प्रतारकाः ॥७६॥

कुछ कपटी लोग यज्ञ हवन आदि क्रियाओं में और चान्द्रायणादि व्रतों और धर्मों का पालन करने में लगे रहते हैं, परन्तु अज्ञान के कारण उनके आत्मा छिपे रहते है (उन्हें आत्म लाभ नहीं होता), ऐसे लोग ठगों की तरह फिरते रहते हैं।

नाममात्रेण सन्तुष्टाः कर्मकाण्डरता नराः ।
मन्त्रोच्चारणहोमाद्यैर्भ्रमिता. क्रतुविस्तरैः ॥७७॥

कुछ लोग तो खाली नामों से ही सन्तुष्ट रह कर कर्मकाण्ड (जप, यज्ञ आदि) में लगे रहते है, वे मन्त्रों के पढ़ने, हवन इत्यादि के करने और बड़े विस्तार वाले यज्ञों के धोखे में पडे रहते हैं (क्योंकि बिना ज्ञान प्राप्ति के यह सब बातें व्यर्थ हैं) ।७७।

एकभुक्तोपवासाद्यैर्नियमैः कायशोषणैः ।
मूढाः परोक्षमिच्छन्ति तव मायाविमोहिताः ॥७८॥

हे देवि ! यह मूर्ख लोग तुम्हारी माया से मोह में पड़ कर एक ही समय अन्न खाते हैं व्रत उपवास (एकादशी आदि) आदि नियमों का पालन मुक्ति पाने की इच्छा से करते हैं, परन्तु इन से केवल शरीर को कष्ट मिलता है और मुक्ति प्राप्त नहीं होती ।७८।

किन्तु देहदण्डनमात्रेण का सिद्धिरविवेकिनाम् ।
वल्मीकताडनाद्देवि ! मृतः कोऽत्र महोरगः ॥७९॥

(व्रतों इत्यादि से) शरीर को केवल कष्ठ देने से इन विचार-हीन पुरुषों को क्या सफलता प्राप्त हो सकती है? हे देवी! केवल मिट्टी के ढेर को पीटने से इस संसार में क्या कोई बड़ा सांप मर सकता है? । ७९ ।

अर्थाभाव- धनार्जनोपयुक्तास्ते दाम्भिका वेषधारिणः ।
जिनोयुक्ताः भ्रमन्ति ज्ञानिवल्लुब्धा भ्रामयन्ति जनानपि ॥८०॥

वे पाखंडी साधुओं के भेस में धन कमाने में लगे रहते हैं। और ज्ञानी पुरुष का बहाना बना कर वे लोभी फिरते रहते हैं और लोगों को भी धोखे में डालते हैं।८०।

सांसारिकसुखासक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीतिवादिनम् ।
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥८१॥

जो मनुष्य सांसारिक धन पुत्रादि और विषय भोग रूपी सुखों में लगा हो और कहे कि मैं तत्त्वज्ञानी हूं, ऐसा मनुष्य व्यवहार और परमार्थ दोनों से हीन है और ऐसे छोडने के योग्य है जैसे चाण्डाल होता है। (उसका संग नहीं करना चाहिए) ।८१।

गता गृहारण्यसमा लोके गतव्रीडादिगम्बराः ।
चरन्ति गर्दभाद्याश्च विरक्तास्ते भवन्ति किम् ॥८२॥

कुछ लोग घर बार छोड़ कर वनों में निर्लज्ज हो कर नंगे रहते हैं और अपने आप को विरक्त कहते हैं, परन्तु गधे इत्यादि पशु भी तो वनों में ही इसी प्रकार नंगे रहते है, तो क्या वह गधे भी विरक्त होते हैं? अर्थात नहीं होते। ८२।

वदन्ति हृदयानन्दं पठन्ति शुकशारिकाः ।
जनानां पुरतो देवि ! विमुक्तास्ते भवन्ति किम् ॥८३॥

कुछ और प्रकार के मनुष्य लोगों के सामने मीठे मीठे वाक्यों या गीतों को सुनाकर अपना हृदय आनन्द भरा प्रकट करते हैं जैसे वे मुक्त हो चुके हैं। तोते मैना आदि पक्षी भी तो ऐसी मीठी बोलियां बोलते हैं, तो क्या वे भी मुक्त हैं ? ।८३।

आजन्ममरणान्तश्च गङ्गादितटिनीस्थिताः ।
मण्डूकमत्स्यप्रमुखा व्रतिनस्ते भवन्ति किम् ॥८४॥

कुछ लोग तो जन्म से लेकर मरण काल तक गङ्गा आदि पवित्र नदियों के तटों पर रहने का व्रत धारण करते हैं, मेंडक, मछलियां आदि भी तो इन्हीं नदियों में रहती हैं, तो क्या इन्हें भी व्रत धारी कहा जा सकता है ? ।८४।

तृणपर्णोदकाहाराः सततं वनवासिनः ।
हरिणादि मृगा देवि ! तापसास्ते भवन्ति किम् ॥८५॥

कुछ और लोग तपस्वी बनने के लिये घास फूस, वृक्षों के पत्ते और जल का ही आहार करते हैं और सदा वनों में रहते हैं, हे देवी ! हरिण आदि मृग भी तो वनों में रह कर घास फूस ही खाते हैं, तो क्या वे भी तपस्वी है ? (नहीं) ।८५।

पारावताः शिलाहाराः परमेश्वरि ! चातकाः ।
न पिबन्ति महीतोयं योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥८६॥

हे पार्वती ! यदि पर्वतों पर रहकर कंकर के टुकडे खाने और जल न पीने से कोई पुरुष योगी बन सकता है, तो चातक (पपीहा) भी तो ऐसे ही पर्वतों पर रहकर, शिला खाकर और जल न पीकर जीवन व्यतीत करते हैं, तो क्या वे भी योगी होते हैं ? (नहीं। ।८६। अद्यापद्गसमा:

शीतवातातपसहा जम्बालश्मशयाः प्रिये : !
तिष्ठन्ति शूकराद्याश्च योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥८७॥

हे प्राण वल्लभे ! सुअर इत्यादि पशु भी सर्दी, गर्मी, वायु सहते हैं, कीचड और पत्थरों पर सोते हैं (यदि ऐसा करने से मनुष्य योगी बन जाते हैं), तो क्या वे (सुअर आदि) भी योगी हैं ? । ८७ ।

तस्मादित्यादिकं कर्म लोकरञ्जनकारणम् ।
मोक्षस्य कारणं साक्षात् तत्त्वज्ञानं कुलेश्वरि ! ॥८८॥

इसलिये ऐसी ऐसी बातों का (व्रत, तपस्या आदि) करना केवल दूसरे लोगों को खुश करने का कारण हैं (मुक्ति का कारण नहीं), हे देवी, मुक्ति का कारण तो केवल आत्म ज्ञान है, उसके बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती । ८८ ।

षड्दर्शनमहाकूपे पतिताः पशवः प्रिये !
परमार्थं न ज़ानन्ति पशुपाशनियन्त्रिताः ॥८९॥

हे प्यारी ! अज्ञानी मूर्ख पुरुष जीव भाव (अज्ञान) की फांसियों से झकडे हुए होने के कारण षट् दर्शन (शास्त्र का पठन) आदि रूपी गहरे कुएं में पड़े हैं (इन शास्त्रों को बार बार पढ़ कर भी) इस के तत्त्व को नहीं समझ पाते । ८९ ।

वेदशास्त्रार्णवे घोरे उह्यमाना

षड्ऊर्मि ग्राहग्रस्ताश्च

अथवा - कालोर्मि - ग्राहग्रस्ताश्च

वेदार्थमपरिज्ञाय दह्यमाना इतस्ततः ।
कालोर्मिणा ग्रहग्रस्तास्तिष्ठंति हि कुतार्किकाः ॥९०॥

यह शास्त्र पढ़े हुए उल्टे तर्क करने वाले वेदों और शास्त्रों के परमार्थ को न जान कर अहंकार से जले हुए इधर उधर फिरते रह हैं जब तक काल रूपी सागर की तरंग उन को ऐसे खा जाती है जैसे किसी मनुष्य को मगरमछ ग्रास कर लेता है ।९०।

वेदागमपुराणज्ञः परमार्थं न वेत्ति च । यः
विडम्बकस्य तस्यापि तत्सर्वं काकभाषितम् ॥९१॥

वेदों , तन्त्रों, पुराणों का पढ़ा हुआ जो पुरुष उन शास्त्रों के असली तत्त्व को न जानता हो, वह निश्चय ही पाखंडी है और उसका शास्त्रों का पढ़ना कौए की कांई कांई के समान निष्फल है ।९१।

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमिति चिन्तासमाकुलाः ।
पठन्त्यहर्निशं देवि ! परतत्त्वपराङ्मुखाः ॥९२॥

वे अज्ञानी पुरुष दिन रात शास्त्रों का पठन (समझने के विना ही) करते रहते हैं और इसी चिन्ता में डूबे रहते हैं कि यह ज्ञान है और यह जानने योग्य है, परन्तु हे देवी ! वे आत्मा के स्वरूप से विमुख ही रहते हैं । ९२ ।

वाक्य काव्यच्छन्दोनिबन्धेर्न काव्यालङ्कार शोभिताः ।
चिन्तया दुःखिता मूढास्तिष्ठन्ति व्याकुलेन्द्रियः ॥९३॥

काव्य और अलङ्कार शास्त्रों में निपुण भी यह लोग आत्मा के विषय में सुन्दर काव्य और छन्दों की रचना करते हैं, परन्तु अज्ञान के कारण यह मूर्ख चिन्ताओं में पड कर दुःखी रहते हैं और इन की इन्द्रियां विषय वासना के कारण चंचल और व्याकुल रहती है ।९३।

अन्यथा परमं तत्त्वं जनाः क्लिष्यति चान्यथा ।
कथयन्त्युन्मनीभावं स्वयं नानुभवन्ति हि ॥९४॥

आत्मतत्त्व का स्वरूप जो कुछ है परन्तु अज्ञानी लोग और ही प्रकार बता कर कष्ट उठाते हैं, वे ऐसे भावों का वर्णन करते हैं जो मन के विकल्पों से बहुत दूर हैं और जिन्हें वे आप भी अनुभव नहीं कर पाते । ९४ ।

अहङ्कारहताः केचिदुपदेशविवर्जिताः ।
अन्यथाशास्त्रसद्भावं व्याख्यां कुर्वन्ति चान्यथा ॥९५॥

शास्त्रों का अभिप्राय कुछ और ही होता है परन्तु अभिमानी उपदेशहीन पुरुष उन शास्त्रों की व्याख्या किसी और ही प्रकार से करते हैं । ९५ ।

पठन्ति वेदशास्त्राणि

2. अन्यथाशास्त्रसद्भावं दुर्लभाः भाववेदकाः ।
2. न जानन्ति परं तत्त्वं दर्वी पाकरसं यथा ॥९६॥

शास्त्र का परमार्थ कुछ और ही प्रकार से होता है और उस परमार्थ के समझने वाले बहुत कम मिलते हैं लोग शास्त्रों को पढ़ पढ़ कर भी उस के रहस्य को नहीं जान पाते जिस प्रकार कड़छी पतीली में पड़ पड़ कर भी उस में पकी हुई वस्तु के स्वाद को नहीं जान पाती ।९६।

1. शिरो वहति पुष्पानि गन्धं जानाति नासिका ।
1. पठन्ति वेद शास्त्राणि विवदन्ति परस्परम् ॥९७॥

फूल तो सिर पर चढाये जाते हैं परन्तु उनकी सुगन्धि का ज्ञान नाक को है सिर को नहीं । इसी प्रकार यह लोग भी समझने के बिना ही शास्त्रों को पढ़ते रहते हैं और आपस में व्यर्थ ही वाद विवाद करते हैं । ९७ ।

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति ।
गोपः कुक्षिगतं छागं कूपे पश्यति दुर्मतिः ॥९८॥

मूर्ख पुरुष अपने ही पास ठहरे आत्मस्वरूप को न जान कर शास्त्रों से (समझने बिना ही) मोह में पड़ जाता है, उस की दशा उस मूर्ख ग्वाले की सी है जो अपनी गोद में पड़े बछड़े को न देख कर उसे कुएं में ढूंडता फिरे ।९८।

संसारमोहनाशाय शाब्दबोधो न हि क्षमः ।
न निवर्त्तेत तिमिरं कदाचिद्दीपवार्तया ॥९९॥

केवल शास्त्रों के पढ़ने से ही संसार का मोह हट नहीं सकता (अभ्यास और वैराग्य अत्यावश्यक हैं) (दिया जलाये बिना) दिये की केवल बातें करने से ही अंधेरा दूर नहीं हो सकता ।९९।

प्रज्ञाहीनस्य पठनं ह्यन्धस्य दर्पणं यथा ।
देवि ! प्रज्ञावतः शास्त्रं तत्त्वज्ञानस्यकारणम् ॥१००॥

हे देवी ! मूर्ख का शास्त्रों का पढना अन्धे को दर्पण (शीशा) दिखाने के समान निष्फल है। परन्तु बुद्धिमान के लिए वही शास्त्र का पठन आत्मज्ञान का कारण बनता है॥ १०० ॥

अग्रतः पृष्ठतः केचित् पार्श्वयोरपि केचन ।
तत्त्वमीदृक् तादृगिति विवदन्ति परस्परम् ॥१०१॥

कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा आगे की ओर है अथवा पीछे की ओर है, कुछ इसे दाईं अथवा बाईं ओर बताते है, कुछ ऐसा और कुछ वैसा बताते हैं और इस प्रकार असली स्वरूप को न जानते हुए आपस में झगडते रहते हैं।१०१।

सद्विद्यादानसूराद्यैगुर्णैर्विख्यातमानवाः ।
ईदृशस्तादृशश्चेति दूरस्थः कथ्यते जनैः ॥१०२॥

आध्यात्मिक विद्या, दान, कविताओं का रचना इत्यादि बड़े बड़े गुणवान प्रसिद्ध मनुष्य भी इसे भिन्न भिन्न प्रकार से (ऐसा, वैसा) वर्णन करते है और तत्त्वज्ञान न होने के कारण कहते हैं कि वह (आत्मा) बहुत दूर है ।१०२।

प्रत्यक्षग्रहणं नास्ति वार्त्तया ग्रहणं प्रिये !
एवं ये शास्त्रसंमूढारते दूरस्था न संशयः ॥१०३॥

प्रत्यक्ष अनुभव से तो परमार्थ को नहीं जानते, केवल बातों अथवा शास्त्रों द्वारा ही समझने का यत्न करते हैं। इस प्रकार जो लोग शास्त्रों के पढ़ने में ही भटकते रहते हैं, वे निःसन्देह ही परमार्थ (आत्मज्ञान) से दूर रहते हैं ॥१०३)

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं सर्वतः श्रोतुमिच्छति ।
देवि ! वर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नैव गच्छति ॥१०४॥

"यह ज्ञान है और यह जानना है" ऐसा हर जगह (शास्त्रों इत्यादि द्वारा) सुनना चाहते हैं, परन्तु हे देवि ! यदि सौ वर्ष भी आयु हो तो भी शास्त्रों के अन्त को नहीं देख पाते (क्योंकि शास्त्र अनन्त और असंख्य हैं) ॥१०४॥

वेदाद्यनेक शास्त्राणि स्वल्पायुर्विघ्नकोटयः ।
तस्मात्सारं विजानीयात् क्षीरं हंस इवाम्भसि ॥१०५॥

वेद पुराण आदि शास्त्र तो अनेक है, परन्तु (उन्हें पढ़ने के लिये) आयु कम है, और उस पर भी करोडों विघ्न आ पड़ते हैं, इसलिये इन शास्त्रों का निचोड ही केवल जानना चाहिए, जैसे हंस पानी मिले दूध में से दूध को ग्रहण करता है ॥१०५॥

अभ्यस्य सर्वशास्त्राणि तत्त्वं ज्ञात्वा हि बुद्धिमान् ।
पलालमिव धान्यार्थी सर्वशास्त्रं परित्यजेत् ॥१०६॥

बुद्धिमान पुरुष तो सभी शास्त्रों का पठन करके उन में से परमार्थ को ग्रहण करके शास्त्रों को छोड देता है, जैसे धान का चाहने वाला धान को ग्रहण करके उस के भूसे को त्याग देता है । १०६ ।

यथाऽमृतेन तृप्तस्य नाहारेण प्रयोजनम् ।
तत्त्वज्ञस्य तथादेवि ! न शास्त्रेण प्रयोजनम् ॥१०७॥

जिस प्रकार अमृत पीने से तृप्त हुए मनुष्य को भोजन की अपेक्षा नहीं रहती, इसी प्रकार हे देवी ! आत्मज्ञानी पुरुष को भी शास्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती । १०७ ।

न वेदाध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्रपठनादपि ।
ज्ञानादेव हि मुक्तिः स्यान्नान्यथा वीरवन्दिते ॥१०८॥

हे वीरों से शरण गई हुई देवी ! वेदों अथवा शास्त्रों के केवल पढ़ने से ही मुक्ति नही मिल सकती, मुक्ति तो केवल ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है, और किसी प्रकार से नहीं ।१०८।

न वेदाःकारणं मुक्तेर्दर्शनानि न कारणम् ।
मुक्तिदा गुरुवागेका विद्याः सर्वाः विडम्बकाः ॥१०९॥

वेद, शास्त्र अथवा शड्दर्शन इत्यादि का पढ़ना ही मुक्ति का कारण (देने वाला) नहीं हो सकता, केवल सद्गुरु का सदुपदेश ही मुक्ति देने में समर्थ है, विद्याओं (लौकिक, पारमार्थिक) का पढ़ना तो ढोंग ही है। १०९।

अद्वैतं तु शिवेनोक्तं क्रियायास विवर्जितम् ।
गुरुवक्त्रेण लभ्येत नाधीतागमकोटिभिः ॥११०॥

शिव का बताया हुआ अद्वैत मार्ग जो (जप, तपस्या आदि) क्रियाओं के कष्ट रहित है, गुरु महाराज के बताये हुए उपदेश (मुखाम्नाय) से प्राप्त हो सकता है, और करोड़ों शास्त्रों के पढ़ने से प्राप्त नहीं हो सकता।११०।

आगमोत्थं विवेकोत्थं द्विधाज्ञानं प्रचक्षते ।
शब्दब्रह्मागममयं परब्रह्मविवेकजम् ॥१११॥

ज्ञान दो प्रकार का बताया गया है, शास्त्रों के पठन से उपजा हुआ और दूसरा अपने विचार (विमर्श) से उत्पन्न हुआ, शास्त्रों से तो केवल शब्द ब्रह्म का ही ज्ञान है, और विमर्श से परिपूर्ण परब्रह्म आत्मस्वरूप का असली ज्ञान प्राप्त होता है।१११।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्त्वमजानन्तो द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥११२॥

कुछ जिज्ञासु लोग शिव को अद्वैत (अभेद) रूप से जानना चाहते है, और कुछ द्वैत (भेद) रूप से, परन्तु यह दोनों ही नहीं जानते कि शिव का सच्चा स्वरूप समभाव में स्थित द्वैत और अद्वैत दोनों से ही परे है।११२।

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति न ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तुर्न ममेति विमुच्यते ॥११३॥

'यह मेरा है, अथवा यह मेरा नहीं है," यह दो ही शब्द मनुष्य के लिये क्रम से संसार अथवा मुक्ति का कारण बनते हैं, पुत्र, स्त्री, धन इत्यादि से ममता रखने वाला संसार (जन्म मरण) में फंस जाता है और जिसे इन से ममता नहीं, वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। ११३।

तत्कर्म यन्न बन्धाय विद्या सा या विमुक्तये ।
आयासायापरं कर्म विद्याऽन्या शिल्पनैपुणम् ॥११४॥

कर्म वही उत्तम है जो मनुष्य को संसार में न फंसाए, विद्या (शास्त्र) वह उत्तम है जो मुक्ति प्राप्त करने में सहायक बने। इन कर्मों से अन्य दूसरे कर्मों से तो क्लेश ही प्राप्त होता है और अध्यात्म विद्या से भिन्न विद्याएं कला कौशल (सांसारिक व्यवहार) में निपुण बनाती हैं मुक्ति नहीं दिला सकती।११४।

यावत्कामादि दीप्येत यावत्संसारवासना।
यावदिन्द्रियचापल्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥११५॥

जब तक मनुष्य में काम क्रोधादि का वेग है, जब तक उस में संसार (पुत्र, स्त्री, धन) आदि की वासना बनी रहती है, और जब तक उसकी इन्द्रियां विषय भोग के लिए चंचल रहें, तब तक उसे परमार्थ ज्ञान की इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है? ॥११५।

यावत्प्रयत्ने वेगोऽस्ति यावत्सङ्कल्पकल्पना ।
यावन्न मनसः स्थैर्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥११६॥

जब तक मनुष्य सांसारिक व्यवहार में पूरा यत्न लगाता है, जब तक मन भी सङ्कल्पविकल्प में लगा रहता हैं, जब तक मन स्थिर (एकाग्र) नहीं होता, तब तक उसके मनमें परमार्थ विचार उत्पन्न नहीं हो सकता ।११६। यावत्तत्त्वं न विन्दति

यावद्देहाभिमानश्च ममता यावदस्ति हि ।
यावन्न गुरुकारुण्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥११७॥

जब तक मनुष्य का शरीराभिमान बना रहे, जब तक धन पुत्रादि की ममता नहीं छूटती और जब तक गुरुदेव दया नहीं करते तब तक आत्मज्ञान प्राप्त करने का विचार कभी उत्पन्न नहीं हो सकता । ११७ । यावत्तत्त्वं न विन्दति।

त यावत्तपोव्रतं तीर्थं जपहोमार्चनादिकम् ।
वेदशास्त्रागमकथा तावत्तत्त्वकथा कुत. ॥११८॥

जब तक मनुष्य का विश्वास तप, जप, व्रत, तीर्थयात्रा, हवन, पूजा आदि पर ही है और जब तक परमार्थ विचारे बिना शास्त्रों को पढ़ता रहे तब तक स्वरूपलाभ की बात तक नहीं हो सकती ।११८।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा ।
तत्त्वनिष्ठो भवेद्देवि! यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः ॥११९॥

इसलिए हे देवी ! यदि कोई पुरुष आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहता हो, उसे चाहिए कि वह हर अवस्था (बालकपन, जवानी आदि) में और हर समय भरसक यत्न करके एकाग्र चित्त होकर स्वरूपस्थित रहने का यत्न करे। ११९ ।

धर्मज्ञानसुपुष्पस्य स्वकुलोक्तफलस्य च ।
तापत्रयार्त्तिसंतप्तच्छायां कल्पतरोः श्रयेत् ।१२०।

संसार के तीन संतापों आदिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मक) से दुखी मनुष्य को परमार्थ रूपी कल्प वृक्ष की छाया का सहारा लेना चाहिए, जिस के धर्म और ज्ञान रूप सुन्दर फूल हैं और अपने कुलमार्ग में बताई मुक्ति जिस कल्प वृक्ष का फल है; अर्थात सन्ताप हट कर मनुष्य मुक्ति पा लेता है। १२०।

बहुनाऽत्र किमुक्तेन रहस्यं शृणु पार्वति ।
कुलधर्ममृते मुक्तिर्नास्ति सत्यं न संशयः ॥१२१॥

हे पार्वती ! अधिक बातें बताने से क्या लाभ है ? मैं तुम्हें भेद की बात बताता हूं सो सुनो, कुल मत का बताया तत्त्व जाने बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, यह बात बिल्कुल यथार्थ है और इस में ज़रा भर भी संशय नहीं है। १२१।

तस्माद्वदामि तत्त्वं ते विज्ञायत्रि गुरोर्मुखात् ।
सुखेन मुच्यते देवि ! घोरसंसारबन्धनात् ॥१२२॥

इस कारण हे देवा ! मैं तुम से सचा परमार्थ बताता हूं कि सद्गुरु द्वारा सदुपदेश ग्रहण करके और उसका अभ्यास करके मनुष्य इस दुःख भरे भयानक संसार के बन्धनों से छूट कर सुख पूर्वक मुक्ति प्राप्त कर लेता है।१२२।

इति ते कथिता काचिज्जीव जाति स्थितिः प्रिये !
समासेन कुलेशानि ! किंभूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१२३॥

इस प्रकार हे कुलेश्वरी ! मैंने संक्षेप से तुम्हें जीव जाति का कुछ हाल कह दिया (कैसे वे इस संसार में दुःखी रहते हैं), हे प्रिये ! तुझे और क्या सुनने की इच्छा है ? (सो कहो, तो मैं तुम्हारी शंका का समाधान करूं) । १२३ ।

इति श्री कुलार्णवे महारहस्ये जीवस्थिति कथनं नाम प्रथम उल्लासः । इस प्रकार महारहस्य पूर्ण कुलार्णव तन्त्र में 'जीव जानि का हाल' नामक

प्रथम उन्मेष समाप्त हुआ ॥



अथ

श्री कुलार्णवे तत्र

नवम उल्लासः

देव्युवाच —

कुलेश ! श्रोतुमिच्छामि योगं योगीशलक्षणम् ।
कुलभक्तार्चनफलं वदस्व करुणानिधे ! ॥१॥

देवी ने कहा—हे जगत् रूप कुल के स्वामी शङ्कर ! मैं योग के विषय में और उत्तम योगीश्वर का लक्षण सुनना चाहती हूं। हे दयासागर ! मुझे यह भी बताइये कि कुलमार्ग के अनुसार उपासना करने वाले को क्या फल मिलता है ?

ईश्वर उवाच—

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि योगं योगीशलक्षणम् ।
तस्य श्रवणमात्रेण योगः साक्षात्प्रकाशते ॥२॥

श्री शङ्कर ने उत्तर दिया—हे देवी ! सुनो, मैं आप से योग और योगीश्वर के लक्षण बताता हूं उसके केवल सुनने से ही योग प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो जाता है।

ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ।
साकारं स्थूलमित्याहुर्निराकारं तु सूक्ष्मकम् ॥३॥

स्थूल और सूक्ष्म के भेद से ध्यान दो प्रकार का कहा गया है, साकार ध्यान को स्थूल और आकार रहित निराकार ध्यान को सूक्ष्मध्यान कहते हैं। ३।

स्थैर्यार्थं मानसः कश्चित्स्थूलध्यानं प्रचक्षते ।
स्थूलेन निश्चलचेतो भवेत्सूक्ष्मेऽपि सुस्थिरम ॥४॥

मन को एकाग्र करने के लिए कोई स्थूल ध्यान उपयोग में लाना कहा गया है, जब मन स्थूल ध्यान से एकाग्र हो जाता है तो फिर वह सूक्ष्म ध्यान पर भी एकाग्र हो जाता है ।४ ।

करपादोदराङ्गादिरहितं परमेश्वरम् ।
सर्वतेजोमयं ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥५॥

परमेश्वर का निराकार भाव से अर्थात् हाथ पांव पेट इत्यादि अंगों रहित सत्, चित् और आनन्द लक्षण युक्त अत्यन्त प्रकाशमान स्वरूप का सूक्ष्म ध्यान करना चाहिए । ५ ।

नोदेति नास्तमभ्येति न वृद्धिं याति न क्षयम् ।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत्साधनं विना ॥६॥

परमेश्वर के स्वरूप का न कभी उदय होता है और न कभी अस्त होता है (वह उत्पत्ति और नाश से उत्तीर्ण है), न कभी बढता ही है और न कभी घटता ही है, वह स्वप्रकाश है और अपने से भिन्न घटपटादि पदार्थों को भी किसी साधन के बिना ही प्रकाशमान बनाता है ।६।

अनवस्थं च तद्रूपं सत्तामात्रमहेतुकम् ।
वचसात्मनि सायुज्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञकम् ॥७॥

वह (आत्मा का) स्वरूप जाग्रदादि अवस्थाओं से परे और केवल सत्ता मात्र ही है और उसे प्रकट करने के लिए उस के बिना कोई अन्य कारण नहीं, विमर्श द्वारा ही उसे जाना जा सकता है , उसके ज्ञान को ही ब्रह्मज्ञान कहते हैं । ७ ।

प्राणवायुसञ्चारः पाषाण इव निश्चलः ।
परजीवैकधामज्ञो योगी योगविदुच्यते ॥८॥

जिस योगी ने प्राण वायु (प्राण, अपान) की गति को रोक कर अपने वश किया हो, एकाग्रता के कारण पत्थर जैसा अटल हो, परमात्मा और जीवात्मा की एकता को जानता हो, ऐसे योगी को उत्तम योग का जानने वाला कहते है । ८ ।

पदार्थमात्रनिर्भातं स्तिमितोदधिवत्स्थितम् ।
रूपशून्यं च यद्ध्यानं समाधिरभिधीयते ॥९॥

जो ध्यान रूपरहित (निराकार) केवल सत्तामात्र ही भासता हो और निस्तरंग समुद्र की भांति शांत हो उस ध्यान को समाधि कहते हैं । ९ ।

न किञ्चिच्चिन्तनाद्देवि ! स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ।
स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ॥१०॥

किसी भी वेद्य पदार्थ का न चिन्तन करने से (मन को निर्विकल्प बनाने से) परमार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है और जब परमार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाय तो तुरन्त ही मनुष्य उस आत्म तत्त्व में लीन हो जाता है । १० ।

स्वप्नजाग्रदवस्थायां स्वप्नवद्योऽवतिष्ठति
निःश्वासश्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥११॥

जो पुरुष जाग्रत् (जागने की) अवस्था और स्वप्नअवस्था दोनों को स्वप्न की भांति मिथ्या मानकर व्यवहार करे और अपने प्राण वायु (प्राण,अपान) को वश में रखे वह निश्चय ही मुक्ति प्राप्त कर चुका है ॥११॥

निःस्पन्दकरणग्रामः पाषाण इव निश्चलः ।
य आस्ते मृतवत्साक्षाज्जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१२॥

जिसकी इन्द्रियां वेहरकत (शान्त) हैं और विषयों के पीछे चंचल नहीं हैं और जो अपने चित्स्वरूप पर पत्थर की तरह अटल स्थिति रखता है और वाह्य व्यवहार करता हुआ भी अन्तर्मुखता के कारण एक मरे हुए जीव की तरह है, वह पुरुष निश्चित रूप से जीवन्मुक्त कहा गया है।

न शृणोति न वा पश्येत् न तिष्ठति न गच्छति ।
न जानाति सुखं दुःखं न च संलिप्यते मनः ।१३।
न चापि किंचिज्जानाति न च बुध्यति काष्ठवत् ।
एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते ॥१४॥

जो पुरुष आत्मविमर्शन में इतना लीन हो गया हो कि वह कानों से किसी वाह्य शब्द को न सुने, आंखों से न देखे, न ठहरे, न चले, मन से सुख अथवा दुःख को न जाने, और जिसके अन्तःकरण पुण्य पाप आदि से लेपायमान न हो, जो किसी भी वेद्यपदार्थ को न जाने और एक जड पदार्थ की तरह व्यवहार करता हुआ कुछ भी न समझे (जिसके अन्तःकरण और बहिष्करण पूर्णतया आत्मविमर्श में लगे हों), ऐसे पुरुष की आत्मा शिव के साथ एकता प्राप्त कर चुकी है, एसे पुरुष को ही समाधिनिष्ठ कहते हैं ॥ १४ ॥

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः ॥१५॥

जिस प्रकार दूध में डाला हुआ दूध, पानी में डाला हुआ पानी, घी में डाला हुआ घी इस प्रकार मिल जाते हैं कि उन में कोई भेद नहीं रहता, ऐसे ही जब जीवात्मा और परमात्मा में एकता प्राप्त हो जाए तो वे अभिन्न हो जाते है, जीवात्मा ही शिवरूप हो जाता है ॥ १५ ॥

यथा ध्यानस्य सामर्थ्यात् कीटको भ्रमरायत।
तथा ध्यानस्य सामर्थ्याद्ब्रह्मभूतो भवेन्नरः ॥१६॥

जिस प्रकार एक कीडा भौंरे का निरन्तर ध्यान करने से आप भी भौंरे का रूप बन जाता है, इसी प्रकार एक मनुष्य भी एकाग्रता से परमात्मा का ध्यान करता हुआ ब्रह्म रूप ही हो जाता है, यह सब ध्यान की महिमा है।

क्षीरोद्धृतं घृतं यद्वत् तत्र क्षिप्तं न पूर्ववत्।
पृथक्कृते गुणेभ्यः स्यादात्मा तावदिहोच्यते ॥१७॥

जिस प्रकार दूध में से निकाला हुआ मक्खन उस दूध में फिर डालकर पहले की तरह नहीं मिल सकता, इसी प्रकार गुणों (सत्त्व, रज, तम) से पृथक् हुआ आत्मा फिर इस त्रिगुणात्मक संसार से नहीं मिलता, ऐसा इन शास्त्रों में बताया गया है।१७।

यथान्धकारागारस्थो न किञ्चिदिह पश्यति।
अलक्ष्यं च तथा योगी प्रपञ्चं नैव पश्यति ॥१८॥

जिस प्रकार किसी अंधेरी कोठड़ी में बठा मनुष्य बाहर के किसी पदार्थ को नहीं देखता, इसी प्रकार आत्मविमर्श में लीन योगी भी बहिर्मुखता रूप इस विश्व प्रपंच को नहीं देखता।१८।

यथा निमीलने काले प्रपञ्चं नैव पश्यति।
तथैवोन्मीलनेऽपि स्यादेतज्ज्ञानस्य लक्षणम् ॥१९॥

जिस प्रकार इन्द्रियों को अन्तर्मुख करते समय मनुष्य विषयों के प्रपञ्च को नहीं देखता, इसी प्रकार इन्द्रियों की बहिर्मुखता के समय भी उसे विषयों में आसक्त नहीं होना चाहिए, यही ज्ञान का लक्षण है।१९।

जनः स्वदेहकण्डूतिं विजानाति यथा तथा ।
परब्रह्मस्वरूपी च वेत्ति विश्वविचेष्टितम् ॥२०॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने शरीर की खुरचन को (आंखों देखे बिना ही) जान लेता है, इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानी पुरुष भी संसार भर की चेष्टाओं को बिना किसी आयास के जान लेता है (उस में सर्वज्ञता शक्ति उत्पन्न हो जाती है) ।२०।

विदिते परमेतत्त्वे वर्णातीतेऽस्तविक्रमे ।
किङ्करत्वं हि गच्छन्ति मन्त्रा मन्त्राधिपैः सह ॥२१॥

जब किसी पुरुष ने उत्कृष्ट आत्मा का स्वरूप जान लिया हो और जब उसका बल (विषयों को भोगने की आकांक्षा) अस्त हो गया हो, तो सभी मन्त्र और मन्त्रों के अधिष्टातृ देव उसके वश हो जाते हैं ।२१।

आत्मैकभावनिष्ठस्य या या चेष्टा तदर्चनम् ।
यो यो जल्पः स मन्त्रः स्यात्तद्ध्यानं यन्निरीक्षणम् ॥ २२ ॥

आत्मा की एकता पर निश्चय युक्त योगी जो जो चेष्टा (इन्द्रियों से काम) करे वह सब उस आत्मा रूप शिव की पूजा है, वाणी से जो बातें करे सो मन्त्र जप के तुल्य है और जो देखने की क्रिया है सो ध्यान है। २२।

देहाभिमाने गलिते विदिते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥२३॥

जब शरीर पर आत्म अभिमान नष्ट हो जाय और शिव रूप परमात्मा का साक्षात्कार हो गया हो, तो मन जहां कहीं भी विकल्प में जाय वहां ही समाधि का सुख मिलता है। २३।

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परात्परे ॥२४॥

जब योगी को उस सब से परे आत्म स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, तो उसके हृदय की गांठें खुल जाती हैं (उसका सङ्कोच मिट जाता है) सभी संशय मिट जाते हैं और पुण्य तथा पाप कर्मों में फल देने का सामर्थ्य नहीं रहता। २४।

योगीन्द्रेण यथा प्राप्तं निर्मलं परमं पदम्।
दैवासुर पदं तद्वत् प्राप्तं चापि न गृह्यते ॥२५॥

जिस प्रकार (सुखोपाय से) कोई उत्तम योगी निर्मल (प्रकाशमान) शिव की ऊंची पदवी को प्राप्त करता है, उस प्रकार (सुखी मार्ग से) प्राप्त की हुई इन्द्रादि देवताओं के राजा अथवा राक्षसो के राजा की पदवी को प्राप्त करके भी उसे ग्रहण न करके उसे तिरस्कार करता है। आत्मज्ञान (मुक्ति) आसान उपाय से प्राप्त होती है परन्तु इसका आनन्द घोर तपस्याओं से प्राप्त की हुई इन्द्रादि या दानवेन्द्रादि की पदवी से कई गुणा अधिक है, और अनन्त काल तक रहने वाला है। २५।

यः पश्येत्सर्वगं शान्तमानन्दानन्दमव्ययम्।
न तस्य किञ्चिज्ज्ञातव्याज्ञातव्यात्मावशिष्यते ॥२६॥

जिस योगी ने व्यापक, शान्त, आनन्द स्वरूप अविनाशी (अपने आत्मस्वरूप) का साक्षात्कार कर लिया हो तो उस के लिये 'यह जानने योग्य बात है अथवा यह न जानने होग्य बात है' इस प्रकार का कोई भेदभाव नहीं रहता। २६।

संप्राप्ते ज्ञानविज्ञाने सिद्धयश्च हृदि स्थिते।
लब्धे शान्त पदे देवि ! न योगो नैव धारणा ॥२७॥

जब मनुष्य को ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का पूर्ण ज्ञान हो जाय, सभी सिद्धियां (अणिमादिक) उसके हृदय में ठहरें (उसके वश हो जायं) और शान्त शिव पद पर स्थित हो जाए, तो उसे योगाभ्यास या धारणा, ध्यान आदि की आवश्यकता नहीं रहती।२७।

परब्रह्मणि विज्ञाते समस्तैर्नियमैरलम्।
तालवृत्तेन किं कार्य्यं लब्धे मलयमारुते ॥२८॥

जब परब्रह्मस्वरूप आत्मा का ज्ञान हो जाय तो यम, नियम आदि किसी भी उपाय अथवा अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे जहां मलय पर्वत की चन्दन सुगन्धित वायु चल रही हो, वहां पंखे की क्या आवश्यकता है ? । २८ ।

आसिका बन्धनं नास्ति नासिका बन्धनं न हि।
नियमानियमो नास्ति स्वयमेवात्मपश्यताम् ॥२९॥

जिन्होंने अपने आप आत्मसाक्षात्कार कर लिया हो उन के लिये फिर आसनों का बनाना, प्राणायाम आदि अष्टांग योग की आवश्यकता नहीं रहती और न उन्हें किसी नियम के पालने या न पालने से ही सम्बन्ध है । २९ ।

न पद्मासनतो योगो न नासाग्रनिरीक्षणात् ।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः ॥३०॥

पद्मासन इत्यादि धारण करने से या नाक के अगले सिरे की ओर दृष्टि बांधने से योग प्राप्ति नहीं होती। जीवात्मा और परमात्मा की एकता को ही योग के जानने वाले योग कहते हैं ।३०।

ध्यायतः क्षणमात्रं हि श्रद्धया परमं पदम् ।
यद्भवेत्सुमहत्पुण्यं तस्यान्तं नैव गण्यते ॥३१॥

जो पुरुष थोडी देर के लिए भी श्रद्धा और एकाग्रता के साथ उस उत्कृष्ट आत्म स्वरूप का समाधान करे तो उसे इतना पुण्य फल मिलता है, जिस की गणना नहीं हो सकती (वह सब बन्धनों से छूट कर मुक्त हो जाता है) ।३१।

क्षणं ब्रह्माहमस्मीति यः कुर्यादात्म चिन्तनम् ।
तत्सर्वं पातकं हन्यात्तमः सूर्योदये यथा ॥३२॥

जो पुरुष एक क्षणमात्र के लिए भी 'मैं व्यापक ब्रह्म स्वरूप हूं' इस प्रकार आत्मा का विमर्श करे तो उस के सभी पाप इस प्रकार दूर हो जाते हैं जैसे सूर्य के उदय करते ही अंधेरे का नाश हो जाता है। ३२।

व्रतक्रतुस्तपतीर्थ दानदेवार्चनादिषु ।
यत्फलंकोटिगुणितं तदवाप्नोति तत्त्ववित् ॥३३॥

व्रत धारण करने, यज्ञ या तप तीर्थयात्रा और देवताओं की पूजा आदि करने से जो फल मिलता है, उस से करोड गुना फल आत्मज्ञानी परमार्थवेत्ता को मिलता है। ३३।

उत्तमा सहजावस्था मध्यमाध्यानधारणा ।
जपस्तुतिः स्यादधमा होमपूजाधमाधमा ॥३४॥

स्वभाव से ही सिद्ध चैतन्य अवस्था का विमर्श सब से उत्तम है, ध्यान, धारणा आदि उपायों का विमर्श दूसरे (मध्यम) दर्जे पर है, जप, स्तुति आदि का करना अधम है और हवन पूजा आदि स्थूल क्रियाएं तो अधम से अधम हैं। ३४।

उत्तमातत्त्वचिन्ता स्याज्जपचिन्ता तु मध्यमा ।
शास्त्रचिन्ताधमा ज्ञेया लोकचिन्ताधमाधमा ॥३५॥

आत्मा के सच्चे स्वरूप का चिन्तन उत्तम है, जप इत्यादि का करना मध्यम है, शास्त्रों का चिन्तन (खाली पढ़ना) अधम है और लौकिक व्यवहार के चिन्तन में लगे रहना अत्यन्त अधम है ।३५।

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्र कोटिसमो जपः ।
जपकोटिसमं ध्यानं कोटिसमो लयः ॥३६॥

परमेश्वर या देवता विशेष का स्तोत्र पाठ करना करोडों पूजाओं के समान फल रखता है और जप करना तो करोडों स्तोत्र पाठ के तुल्य है आत्मा का ध्यान (विमर्श) करोडों जपों के तुल्य और उसी ध्यान में तन्मय होकर उस के साथ एकता प्राप्त करना तो करोडों ध्यानों के समान है। ३६।

न हि नादात्परो मन्त्रो न देवोस्वात्मनः परः ।
नानुसन्धेः परापूजा न हि तृप्तेः परं फलम् ॥३७॥

नाद (अकृत्रिम अहं) से बढ़ कर कोई दूसरा मन्त्र नहीं है, स्वात्मस्वरूप से बढकर कोई दूसरा देवता रहीं, अपने स्वात्म स्वरूप का साक्षात्कार करने से बढ कर कोई पूजा नहीं, और निरपेक्ष-भाव से बढ कर कोई फल नहीं है।३७।

अचिन्तैव परं ध्यानमनिच्छैव परं फलम् ।
अक्रियैव परा पूजा मौनमेव परो जपः ॥३८॥

किसी वेद्य का चिन्तन न करना (निर्विकल्प भाव) ही सब से उत्कृष्ट ध्यान है, किसी वस्तु की इच्छा न करना ही सब से बड़ा फल है, किसी क्रिया का न करना (अनासक्त रहना) ही सब से उत्तम पूजा है, और मौन (इंद्रियों की चंचलता रहित रहना) ही सब से उत्तम जप है। ३८।

मन्त्रोदकैर्विना सन्ध्या जपहोमैर्विना जपः ।
उपचारैर्विना यागं योगी नित्यं समाचरेत् ॥३९॥

योगी पुरुष नित्य ही मन्त्र उच्चारण और जल के बिना ही (विमर्श से ही) सन्ध्या करता है, जप (स्थूल) और हवन विना ही जप करता है, उपचारों (पुष्प, धूप, दीप आदि) बिना ही यज्ञ करता रहता है। ३९।

निःसङ्गश्च विसङ्गश्च निस्तीर्णोपाधिवासनः ।
निजस्वरूपनिर्मग्नः स योगी परतत्त्ववित् ॥४०॥

जो योगी पुरुष सङ्ग सहित या संगरहित एक समान, उपाधियों और वासनाओं रहित हो और नित्य ही अपने आत्मस्वरूप के विमर्शन में लीन रहे, उसी को उत्तम आत्मज्ञानी कहा जाता है। ४०।

देहो देवालयो देवि ! जीवो देवः सदाशिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहम्भावेन पूजयेत् ॥४१॥

हे पार्वती ! यह शरीर एक मन्दिर के समान है और इस में ठहरा हुआ जीवात्मा मंदिर में रखी देवमूर्ति के समान शिव रूप ही है, मनुष्य को चाहिए कि इस देवता की पूजा करके अज्ञान रूप निर्माल्य (मल देहाभिमान) को छोड कर उस शिव से अभेद भावना करके उस की पूजा करे।४१।

जीवःशिवः शिवोजीवः स जीवः केवलः शिवः ।
पाशबद्धः स्मृतो जीवः पाशमुक्तःसदाशिवः ॥४२॥

जीवात्मा ही शिव रूप परमात्मा है (ज्ञान प्राप्त करके) और शिव ही अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जीव भाव प्राप्त करता है, शिव और जीव में कोई भेद नहीं है, अज्ञान रूप बन्धन में पडकर इसे जीव कहा जाता है पर जब बन्धनों से छूट जाये, तो इसे ही शिव के नाम से पुकारा जाता है। ४२।

यथा पङ्ग्वन्धवधिरमूकोन्मत्त जडादयः ।
निवसन्ति कुलेशानि ! तथा योगी च तत्त्ववित् ॥४३॥

हे कुलनायिका, जिस प्रकार संसार में लंगड़े, अन्धे, बहरे, गूंगे, पागल लोग या जड पदार्थ अपना जीवन व्यतीत करते हैं, इसी प्रकार आत्म ज्ञानी योगी पुरुष भी साधारणता से व्यवहार करता हुआ अपना समय बिताता है। ४३।

तुषेण बद्धो व्रीहिःस्यात्तुषाभावे हि तण्डुलः ।
कर्मबद्धः स्मृतो जीवः कर्ममुक्तः सदाशिवः ॥४४॥

जिस प्रकार चावल छिल्के से मिले रहकर शाली और छिल्के के न रहने पर चावल कहलाते हैं, इसी प्रकार कर्मों का सम्बन्ध रहने पर शिव ही जीव और कर्मों का संग न रहने पर वही शिव कहलाता है। ४४।

अग्नौतिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥४५॥

ब्राह्मणों का देवता (आत्मस्वरूप) अग्नि में ठहरा है (वे यज्ञों हवनों द्वारा उसे पाने का यत्न करते हैं), मनन शील योगी विमर्श द्वारा उसे अपने ही हृदय में पाते हैं, इन से भी कम बुद्धि वाले उसे मूर्तियों में ठहरा समझते हैं परन्तु आत्मज्ञानी तो उसे सब ही जगह व्यापक पाते हैं। ४५।

यो निन्दास्तुतिशीलेषु सुखदुःखारिबन्धुषु ।
सम आस्ते स योगीन्द्रो हर्षामर्ष विवर्जितः ॥४६॥

योगियों में उत्तम योगी वह है जो निन्दा अथवा स्तुति करने वाले दोनों के साथ, सुख, दुःख, शत्रु अथवा मित्र के साथ एक समान व्यवहार करे (किसी से राग या द्वेष न करे) और हर्ष और ईर्ष्या रहित हो। ४६।

निःस्पृहोनित्यसन्तुष्टः समदर्शी जितेन्द्रियः ।
आस्ते गेहे प्रवासी वा योगी परमतत्त्ववित् ॥४७॥

परमतत्त्व (आत्मा) का पूर्ण ज्ञान रखने वाला योगी सदा आकांक्षा रहित, हर अवस्था में सन्तुष्ट रहता है, सब जड और चेतन पदार्थों को एक समान (चित्स्वरूप) देखता है, इन्द्रियों को वश में रखता है चाहे घर में या विदेश में ठहरे। ४७।

एवं मुद्रासमुत्पन्नः परमानन्द निर्भरः ।
आस्तेसर्वत्र योगीन्द्रः पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥४८॥

इस प्रकार योगीन्द्र हर जगह हर पदार्थ में अपनी (शिव, पूर्णाहन्ता रूप) मुद्रा छाप देता है और परिपूर्ण चिदानन्द से भरा रहता है और अपने चित्स्वरूप को अपने ही विमर्श में अनुभव करता है । ४८ ।

इति श्री कुलार्णवे महारहस्ये योगसंस्थापननाम नवम उल्लासः । ६ ।

इस प्रकार महारहस्यपूर्ण कुलार्णव तन्त्र में 'योग को सिद्ध करना' नाम वाल नौवां उल्लास समाप्त हुआ । ६ ।

॥ शान्तिपर्वणि ॥
॥ अध्यायः ६९ ॥
स्त्रीप्रधानानि राज्यानि विद्वद्भिर्वर्जितानि च।
मूर्खामात्यप्रतप्तानि शुष्यन्ते जलबिन्दुवत्॥

———